लेख

1

कौतूहल पर पहरा

*शारदा कुमारी**

हममें से कई अभिभावकों को अक्सर इस बात की चिंता रहती है कि हमारे बच्चों में जिज्ञासा, उमंग, उत्साह की कमी है लेकिन हमारा ध्यान इस बात पर कम ही जाता है कि आखिर क्यों बच्चों में उमंग, चंचलता कम हो रही है। कहीं अभिभावकों द्वारा लगाई जा रही बंदिशें तो उमंग, चंचलता को कम करने का कारण नहीं है। कुछ ऐसे ही प्रश्नों के जवाब दे रहा है लेख– कौतूहल पर पहरा ।

अक्सर देखा जाता है कि समाज का कोई भी भाग, संस्था अपने किशोर–किशोरियों की आवश्यकताओं, इच्छाओं और बढ़ती हुई उम्र की प्राथमिकताओं को नज़रअंदाज़ करता है। यह निश्चित रूप से विकास की गति में बाधाएँ उत्पन्न करता है। यदि स्थिति इसके विपरीत होती है, तो हम प्रगतिशील समाज के विचारक वयस्क पीढ़ी की नींव रखते हैं। यदि समय रहते ही किशोरों की जिज्ञासाओं को वैज्ञानिक तरीके से सुलझाने के मौके प्रदान करते हैं तो उन्हें स्वस्थ, सुंदर, खुशहाल व ऊर्जावान भविष्य की संभावनाएँ प्रदान करते हैं। यद्यपि समय–समय पर संस्थागत स्तर पर अपने–अपने तरीकों से इन समस्याओं से जूझने का प्रयास किया गया है लेकिन ये प्रयास 'समस्या सुलझाने' तक ही सीमित होकर रह गए हैं। यदि आज एक किशोर या किशोरी के जीवन में कोई समस्या आती है और किसी व्यक्ति, समूह या संस्था विशेष द्वारा उस समस्या को हल करने के लिए यथासंभव मदद की जाती है, तो यह किसी भी तरह से उल्लेखनीय या सराहनीय कार्य नहीं होगा। प्रशंसनीय और वाँछनीय तो यह है कि हम युवाओं को उनकी समस्याएँ स्वयं समझने, उनका हल ढूँढने और उनकी प्राथमकिताएँ तय करने के मौके दें।

इस तरह के कौशल विकसित करने का माहौल दें। यदि हम ऐसा करें तो निश्चित रूप से भविष्य के लिए निश्ंचित हो सकते हैं। कोई भी इस बात का दावा नहीं कर सकता कि एक किशोर–किशोरी के जीवन में एक ही समस्या

* *वरिष्ठ प्रवक्ता*, मंडल शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, सेक्टर–5 आर.के.पुरम, नयी दिल्ली

और वह भी एक ही बार उत्पन्न होगी। अत: अपेक्षित तो यही है कि समस्या बड़ों द्वारा न सुलझाई जाए। बल्कि, उन्हें इस तरह का माहौल दिया जाए कि वे हर बार स्वयं को आत्मविश्वास के साथ स्थिति का सामना करने योग्य समझें। किशोर-किशोरियों के जीवन से जुड़े मुद्दों पर समग्र दृष्टि से विचार करने और उनके प्रति संवेदनशीलता व्यक्त करने के लिए राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् नयी दिल्ली द्वारा 'युवा प्रकोष्ठ' खोला गया। यह प्रकोष्ठ एक तरफ तो सेवारत अध्यापकों को सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों के ज़रिए किशोरावस्था से जुड़े बहुत से मुद्दों को समझने के संदर्भ में प्रशिक्षित कर रहा है। वहीं, दूसरी ओर 'युवा हेल्पलाइन' का संचालन कर रहा है। युवा हेल्पलाइन उन अभिभावकों, बच्चों, अध्यापकों के लिए जो बच्चों से जुड़े संवेगात्मक, भावात्मक, शैक्षिक, व्यावसायिक मार्गदर्शन आदि से जुड़े मुद्दों पर निर्देशन एवं परामर्श चाहते हैं के लिए टॉल फ्री नंबर है। यह प्रात: 7:30 बजे से लेकर सायं 7:00 बजे तक खुली रहती है। पूरे दिन भर में लगभग 100 से 120 तक की संख्या में लोग (बच्चे-बड़े सभी) तरह-तरह के सवाल करते हैं। एक ओर बच्चों के सवाल मित्रता, परीक्षा की तैयारी, भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रमों की जानकारी को लेकर होते हैं। वहीं, दूसरी ओर अभिभावकों व पालकों के सवाल कुछ इस तरह होते हैं, "मेरा बच्चा किसी भी चीज़ में रुचि लेता नज़र नहीं आता, क्या करूँ?" या फिर "मैं अपने बच्चे में जानने और सीखने की ललक कैसे पैदा करूँ?" या फिर "मेरे बच्चे का कुछ काम करने का मन नहीं करता, मैं उसे काम करने के लिए कैसे प्रोत्साहित करूँ?"

कहने का तात्पर्य यह है कि अभिभावकों के फोन दो तरह की चिंताएँ लिए हुए होते हैं। एक तो यह कि उनके बच्चों में कुछ सीखने करने के प्रति कोई रुचि नहीं है। वे किसी भी तरह का काम करना नहीं चाहते और दूसरी चिंता यह कि उनके बच्चे जिज्ञासु प्रवृत्ति के नहीं हैं तथा अपनी आस-पास की दुनिया को लेकर उनमें किसी तरह का उत्साह नहीं हैं ।

यह तो निश्चित ही है कि इस तरह के सवालों के समाधान यूँ ही फोन पर प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। अभिभावकों और बच्चों के पारस्परिक संबंध, पालन-पोषण के तरीके, घर का माहौल यह सब जाने बगैर कोई भी प्रशिक्षित परामर्शदाता किसी भी तरह का न तो समाधान प्रस्तुत करेगी और न ही किसी तरह की सलाह देगी। इसलिए इस तरह के सवाल करने वाले अभिभावकों को कहा गया कि वे अपने बच्चे के साथ आकर मिलें। बच्चों और स्वयं उनसे बातचीत किए बिना हम किसी तरह का उत्तर नहीं दे सकते। नियत समय पर अभिभावक अपने-अपने बच्चों के साथ आकर मिलें। यह बात गौरतलब है कि सवाल पूछने वाले सभी अभिभावक नहीं आए। लगभग 56 प्रतिशत अभिभावकों ने बताया कि वे अपनी समस्या का समाधान चाहते तो हैं लेकिन यदि हेल्पलाइन केंद्र पर आएँगे तो आस-पास के लोगों को पता चलेगा कि हम अपने बच्चे के

लिए काउंसलर की मदद लेने गए हैं। उनका नज़रिया हमारे बच्चे की तरफ कुछ ऐसा बनेगा कि हमारा बच्चा समस्याग्रस्त है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ''लोग क्या कहेंगे'' जैसी अनावश्यक मानसिकता के रहते कुछ अभिभावक नहीं आए और न ही उन्होंने यह अनुमति दी कि हेल्पलाइन केंद्र के परामर्शदाता उनके घर जाकर उनकी समस्या-सवाल से जुड़े आयामों को समझ पाएँ।

खैर, जो 44 प्रतिशत अभिभावक अपने बच्चों को लेकर आए। उनसे हुई बातचीत से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके बच्चो में जिज्ञासा और उत्साह की कमी नहीं थी। अपने आस-पास की दुनिया ही नहीं, बल्कि वे तो पूरे ब्रह्मांड को जान लेने की उत्सुकता रखते थे। वे अपने पंखों पर भरोसा कर उन्मुक्त गगन में उड़ान भरना चाहते थे। ये तो उनके अभिभावक ही थे जो उन बच्चों की सुरक्षा व सेहत को लेकर इतने चिंतित थे कि इस फेर में उनकी कल्पनाओं के पर कतरने में न तो उन्हें संकोच ही हुआ और न ही इस बात का एहसास कि वे हमेशा-हमेशा के लिए अपने बच्चे का आनंद छीन रहे हैं। उसे एक निरुत्साही, भीरू और संकोची प्राणी बना रहे हैं।

श्रीमती इला (बदला हुआ नाम) जो सबसे अधिक परेशान थीं। उनका प्रश्न था कि उनकी बच्ची में उमंग व उत्तेजना क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमने उनकी बेटी से बात की जिसमें हमने उसकी दिनचर्या व शौक के बारे में पूछा। तीसरी मुलाकात में उसने खुलकर बताया, ''मुझे कुछ करने ही नहीं दिया जाता न घर में न स्कूल में।'' आगे उसने बताया, ''मैं चाहती हूँ मैं अपना कमरा खुद साफ़ करूँ, जैसे ही झाडू उठाऊँ तो माँ घबराकर झाडू छीन लेती हैं, कहेंगी — अरे धूल उड़ेगी तो छींके आएँगी। तू इसे छोड़ दे। देख कहीं फाँस न लग गई हो। अपने कपड़े स्वयं धोना चाहूँ तो कहेंगी कि अभी से साबुन सर्फ में हाथ डालेगी तो हाथ कठोर हो जाएँगे। निरा कास्टिक सोडा तो भरा होता है इन साबुनों में! रसोई में तो घुसने की पहले से ही मनाही है। यह सब तो घर की बात है। स्कूल में भी वे मेरा पीछा नहीं छोड़तीं। एक दिन हमारी मैम ने साक्षरता रैली निकाली थी। उसमें हमने स्कूल के आस-पास की बस्ती का पूरा चक्कर लगाया। मुझे खूब मज़ा आया। हमने चीख-चीख कर नारे लगाए — 'एक, दो, तीन, चार, पढ़ा लिखा हो यह संसार।' हमें नहीं मालूम कि हमारे नारों का लोगों पर प्रभाव पड़ा या नहीं पर हम बच्चों को बहुत आनंद आया। जब मेरी माँ को पता चला कि बस्ती के आस-पास चक्कर लगाए, नारे बोले तो उन्होंने मेरी मैम से कहा कि मैं उनकी इकलौती संतान हूँ, अगर मैं धूप में चक्कर खाकर गिर जाती तो! उन्होंने मेरी मैम को आगाह किया कि फालतू के काम मेरी कोमल-सी बच्ची से न करवाए जाएँ।''

उस बच्ची ने अपनी माँ द्वारा की जा रही और भी दखलअंदाज़ियों का उल्लेख किया। उसने यह भी बताया कि इस तरह उसे जीने में बिल्कुल भी आनंद नहीं आ रहा है।

आपका क्या ख्याल है? अगर श्रीमती इला की बेटी में उत्तेजना व उमंग नहीं है, तो इसमें गलती किसकी है? श्रीमती इला अपने आप में कोई अपवाद नहीं हैं। भारत के एक वर्ग विशेष के बच्चे इस तरह की बातें झेलते हैं। अभिभावक उनकी सुरक्षा और खुशहाली को लेकर जिस तरह की चिंताएँ ज़ाहिर करते हैं। दरअसल वे ही उनके बच्चों की छलकती हुई उमंगों को सूखी नदी में बदल देती हैं। आप भी अपने आस-पास कुछ इस तरह के संवाद सुनते होंगे —

- अरे! दूर रहना, उसे छूना मत, ख़बरदार।
- अरे! देखना है तो दूर से देखो, इतने नज़दीक आओगे तो चिंगारियाँ आँख में पड़ सकती हैं।
- ये क्या कर रही हो? फौरन हटो यहाँ से। देखती नहीं कितनी कटीली झाड़ियाँ हैं। कोई काँटा चुभ गया तो!
- न बाबा न, वहाँ तो बिल्कुल भी नहीं जाने दूँगी। एकदम सुनसान-सा इलाका है। कोई बड़ा साथ जाएगा तभी जाने दूँगी वहाँ!
- अरे, ये क्या कटर-पटर लगा रही है? बढ़ईगीरी करनी है क्या? फेंक, ये कील हथौड़ी। लग गई हाथ में तो!
- बाप रे, कैसी घनी झाड़ियाँ हैं! उधर बिल्कुल भी मत जाना कोई साँप कीड़ा निकल आए तो!
- अरे अरे, ये फूलदान तोड़ेगी क्या? छोड़ ये फूल सजाना। बड़ी होकर सीख लेना।
- चाकू, छुरी का काम तो बेटा अभी रहने ही दे। कुछ कट-फट जाए। तो बैठे-बैठाए बेकार की मुसीबत आ जाएगी।

इस तरह की टिप्पणियों की एक लंबी सूची है। एक खास सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक वर्ग के बच्चे अपने अभिभावकों की अपने प्रति सुरक्षात्मक चिंताओं का दंश झेलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चों में छिपी उमंगें, उत्साह, जिज्ञासाएँ, कौतूहल सब समय से पहले चुक जाते हैं और फिर अभिभावक कुछ और तरह की चिंताओं का दुशाला ओढ़े आ जाते हैं कि उनके बच्चे जिज्ञासु नहीं है।

यहाँ पर अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन होल्ट का एक अनुभव साझा करना ज़रूरी लगता है। अनुभव कुछ इस प्रकार है — कुछ समय पहले बॉस्टन लौटने के लिए मैं हवाई अड्डे पर था। मैंने अपने से कुछ आगे एक माँ-बेटे को भी उसी दिशा में बढ़ते देखा जिस ओर मैं बढ़ रहा था। बच्चे ने पीले रंग का एक फूला-सा स्नोसूट पहने था। उसके आकार और चाल-ढाल से उसकी उम्र कोई डेढ़-दो साल की लग रही थी। माँ उसका हाथ थामे थी और वह ढिठाई से हाथ छुड़ाने की निरर्थक कोशिश कर रहा था। वह अपनी कलाई घुमाकर और कंधों को उचकाकर माँ की गिरफ़्त से छूटने की कोशिश कर रहा था। ज़ाहिर था कि वह स्वयं अपने बलबूते पर उस दूरी को तय करना चाहता था।

संभव है उसकी माँ महज़ आदतन ही उसका हाथ थामे हुए थी। मैंने सोचा कि अगर मैं माँ के दिमाग में यह विचार डाल दूँ कि क्यों न वह अपने बेटे का हाथ छोड़ दे। ज़ाहिर है बच्चा

यही चाहता था। उसे खुद–ब–खुद क्यों न चलने दिया जाए? शायद तब वह इसे आजमाएँ। पर माँ की गिरफ्त की मज़बूती से लग रहा था कि वह शायद यही सोचती या कहती कि 'मैं बच्चे का हाथ कैसे छोड़ सकती हूँ। वह तो अभी दो साल का भी नहीं है। अगर मैं उसे छोड़ती हूँ, तो शायद वह भागेगा। किसी से टकराकर गिरेगा। परेशानी में फँसे या चोट खा लेगा। ज़रूर कोई पागलपन या बेवकूफी भरी खतरनाक हरकत करेगा। मैं ऐसा करने की हिम्मत ही नहीं कर सकती।' सच है इनमें से कुछ भी हो सकता था। पर इसकी संभावना कम ही थी। संभव है बच्चा उस कतार में दूसरे लोगों की ही तरह, सिर्फ अपनी माँ के पास–पास चलना चाहता हो। यह आज़माकर देखना आसान था कि बच्चे की मंशा क्या है? अगर बच्चा दूर जाने लगता तो माँ दो चार डगों में उस तक पहुँच भी जाती। निश्चय ही यह एक छोटी–सी ही बात थी। पर बच्चे को स्वतंत्र होने का, भरोसेमंद महसूस करवाने का, दूसरों की तरह ऐसा कुछ करने देने का जो वे सब कर रहे थे एक मौका खो दिया गया।

एक दूसरे हवाई अड्डे पर, एक अन्य समय फिर मैंने एक अभिभावक व उसके बच्चे को देखा। इस बार एक पिता और उसका लगभग उतना ही बड़ा बच्चा था। बच्चा घूम–घामकर जगह देखना चाहता था। वह पिता समझदार और दयालु रहा होगा। उसने बच्चे को ऐसा करने दिया। बच्चा प्रतीक्षालय और उसके गलियारे में घूमने लगा। पिता उसके पीछे चल दिया। पर उसने इतनी दूरी बनाए रखी थी कि बच्चे को यह न लगे कि उसका पीछा किया जा रहा है या उसे धर–पकड़ने की तैयारी है (अमूमन ठीक इसी कारण छोटे बच्चे भागना चाहने लगते हैं) पर पिता इतनी ही दूर था कि अगर बच्चा किसी खतरनाक चीज के पास पहुँचता तो वह उसे किसी दुघर्टना से पहले बचा सकता था। पिता इतने पास ज़रूर था कि उसकी छानबीन के दौरान अगर बच्चा अचानक यह सोचता कि डैडी भला कहाँ है? और आस–पास नज़र दौड़ाता तो उसे पिता का परिचित चेहरा झट दिख जाता। यह निगहबानी बेहद सलीकेदार और संवेदनशील थी। वह बच्चा जब तक कि थक न गया अपनी मौज में इधर–उधर घूमता रहा।

जॉन होल्ट के ये दोनों अनुभव किसी भी अभिभावक के लिए अनजाने या अपरिचित नहीं हैं। हम वयस्कों की दुश्चिंताएँ, बच्चों पर क्या असर डालती हैं? ये दुश्चिंताएँ बच्चों को उनके स्वयं के बारे में, उनके आस–पास की दुनिया के बारे में, उनसे निपटने की बच्चों की क्षमता के बारे में क्या कहती हैं? इस बारे में क्या कभी हम वयस्कों ने अपने आप से सवाल किए हैं? स्कूलों में अध्यापक भी बच्चों यानी कि अपने विद्यार्थियों को लेकर तरह–तरह की दुश्चिंताओं के भार तले दबे रहते हैं।

कक्षा में नयी अवधारणाओं के प्रति समझ पैदा करने के लिए उन्हें पूर्वानुमान लगाने के अवसर नहीं देते क्योंकि उन्हें लगता है कि जब बच्चे अटकलें लगाएँ तो कक्षा में शोर–शराबा होगा और यह अनुशासनहीनता तो उन्हें कभी

रास आती नहीं। कई अध्यापक तो विद्यार्थियों को पूर्वानुमान लगाने के मौके इसलिए नहीं देते कि कौन फालतू का समय लगाए। वे नहीं जानते कि वे कितनी मज़ेदार रोमाँचक दुनिया से अपने आप को वंचित रख रहे हैं।

बच्चों को दरख्तों पर चढ़ना-उतरना बहुत अच्छा लगता है। लेकिन, शायद ही आप कोई ऐसा विद्यालय पाएँगे, जहाँ मध्यावकाश के दौरान बच्चों को दरख्तों पर चढ़ने-उतरने की आज़ादी हो। हैरानी की बात तो यह है कि मध्यावकाश के दौरान भी खेल के मैदान में अध्यापकों को निगहबानी के लिए तैनात कर दिया जाता है। कहीं किसी बच्चे को चोट न लगे या बच्चों का आपस में झगड़ा न हो जाए। एक बार एक विद्यालय में देखा कि जहाँ मध्यावकाश में अध्यापिका झूले के पास तैनात थी। वह बच्चों को बारी-बारी से झूला झूलने की गतिविधि को नियंत्रित कर रही थी। बहुत से बच्चे तो वहाँ से सरक ही लिए। सोचने विचारने की बात है कि झगड़ा, मारपीट, चोट आदि के डर से उनके खेल में नियंत्रण किए जाएँगे क्या?

प्रयोगशालाओं में भी अध्यापक तरह-तरह के डर और शंकाओं के बोझ तले दबे रहते हैं। वहाँ वे दो तरह के डरों का सामना करते हैं — एक तो यह कि कोई बीकर, परखनली आदि टूट न जाए और दूसरा यह कि किसी रसायन आदि से विद्यार्थियों को किसी तरह का नुकसान न पहुँचे। सबसे बड़ी मुसीबत तो तब आ खड़ी होती है जब सह-शिक्षा वाली व्यवस्था में कोई लड़की या लड़का प्रयोग करने में एक-दूसरे की मदद करते हुए दिख जाते हैं। अध्यापक की सारी ऊर्जा उनको अलग-अलग करने में चुकने लगती है। कई बार अध्यापक विद्यार्थियों को चिड़ियाघर, बाग-बगीचों, संग्रहालय आदि की सैर पर तरह-तरह की शंकाओं के साथ ले जाते हैं,जैसे — कहीं कोई बच्चा गिर न जाए, खो न जाए, किसी तरह की चोट न लग जाए आदि। अध्यापकों को यह भी भय रहता है कि किसी तरह का नुकसान न कर दें। कतारबद्ध होकर चलना, तरह-तरह की हिदायत सुनना आदि से बच्चों के भ्रमण आदि का आनंद तो पहले ही खो-सा जाता है। बच्चों के विचारों की धारा जो बड़ी तेजी से उफनती हुई बहती है, नए-नए बिंबों को जन्म देती है। वहीं, अध्यापकों के निदेर्शों की आँधी का वेग सब कुछ उड़ा ले जाता है। पहले-पहल जब बच्चे स्कूल में आते हैं तो उनके ह्वदय में कितनी उमंगें, कितना रोमाँच होता है। लेकिन, प्राय: कुछेक महीनों या हफ्तों के ही बीतते न बीतते बच्चों की आँखों में जिज्ञासा की चमक बुझ जाती है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि अगर चिड़िया अपने आप को बंदी महसूस करती है, तो फिर उससे गाने की उम्मीद कैसे की जा सकती है? ऐसे ही बच्चों की जिज्ञासाएँ हैं, उत्कंठाएँ हैं, मंसूबे हैं। अगर उन्हें हिदायतों के किले की घेराबंदी में जकड़कर रखते हैं, तो कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वे चहकते रहें? उनके कौतूहल को तो हम बंदी बना चुके हैं। हम स्वयं अपने विद्यार्थियों की क्षमताओं और क्षमतावान बनने की इच्छा दोनों को कमतर आँकने के आदी बन चुके हैं।

अगर हम बच्चों की बढ़त और विकास के प्रतिमानों का अवलोकन करें, तो पाएँगे कि वे कितना कुछ सीखना और करना चाहते हैं। वे अपनी विशिष्ट जीवन शैली का, सीखने की तीव्र इच्छा व क्षमता का ऐसा परिचय देते हैं कि हम वयस्कों में वह ढूँढने से मिलेगा। लेकिन हैरानी की बात यह है कि उनकी जिज्ञासु प्रवृत्ति, सीखने की विलक्षण क्षमता और अद्‌भुत बौद्धिक विकास को ग्रहण कैसे लग जाता है? मुझे लगता है इस सवाल का जवाब हम सब वयस्कों के पास है। हम सभी अपने बच्चों के पालन–पोषण और सीखने–सिखाने की शैलियों पर नज़र डालें और अपने भय व आशंकाओं से मुक्ति पाएँ। दरअसल, हम ही तो है जो बच्चों को जोखिम उठाने से डरना सिखाते हैं, प्रयोग करने से बचना सिखाते हैं और पहले से चले आ रहे मार्गों को सुरक्षित बताकर उन्हीं पर चलने की हिदायतें देते हैं, परेशानियों और अज्ञात से जूझने का भय, आतंक पैदा करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने बच्चों की जिज्ञासु प्रवृत्ति बनाए रखने के लिए हमें अपनी इन प्रवृत्तियों पर रोक लगानी होगी।

संदर्भ

होल्ट, जॉन, (2005). *बचपन से पलायन*, एकलव्य प्रकाशन, अरेरा कॉलोनी, भोपाल, म. प्र.; पृ. सं. 65–66